

- | | |
|--|--|
| ४२. तत्त्वार्थसूत्र, १/४ | ५१. वही, १/८/३ |
| ४३. इसिभासियाई (ऋषिभाषित), ९/२ | ५२. आचारांगसूत्र, १/४/२/१ |
| ४४. समयसार (कुन्दकुन्द), १४५-१४६ | ५३. सागरमल जैन- जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ५२-५५ |
| ४५. प्रवचनसार टीका (अमृतचन्द्र), १/७२ की टीका | ५४. वही, पृ. ६१-६७ |
| ४६. समयसार वचनिका, जयचन्द्र छाबड़ा, गाथा १४५-१४६ की वचनिका पृ. २०७ | ५५. वही, पृ. ५७ |
| ४७. भगवद्गीता, ४/१६ | ५६. (अ) वही, पृ. ६७-७९ |
| ४८. सूत्रकृतांग, १/८/२२-२४ | (ब) प्रस्तुत विवरण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ एवं ८, कर्मग्रन्थ प्रथम, (कर्मविपाक) पृ. ५४-६२, समवायांग ३०/१ तथा स्थानांग १/४/४/३७३ पर आधारित है। |
| ४९. भगवद्गीता ४/१६ | |
| ५०. सूत्रकृतांगसूत्र, १/८/१-२ | |

प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

चार्वाक या लोकायत दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवादी जीवनदृष्टि की उपस्थिति के प्रमाण अति प्राचीन काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन धारा में उसकी समालोचना की गई है। जैन-धर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों में भी इस भौतिकवादी जीवनदृष्टि का प्रतिपादन एवं समीक्षा अति प्राचीन काल से ही मिलने लगती है। जैन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में महावीर के युग से लेकर आज तक लगभग २५०० वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में इस विचारधारों की समालोचना होती रही है। इस समग्र विस्तृत चर्चा को प्रस्तुत निबन्ध में समेट पाना सम्भव नहीं है, अतः हम प्राकृत आगम साहित्य तक ही अपनी इस चर्चा को सीमित रखेंगे।

प्राचीनतम प्राकृत आगम साहित्य में मुख्यतया आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ई०पू० तीसरी शती के बीच निर्मित हुए हैं, ऐसा माना जाता है।^१ इसके अतिरिक्त उपांग साहित्य के एक ग्रन्थ राजप्रश्नीय को भी हमने इस चर्चा में समाहित किया है। इसका कारण यह है कि राजप्रश्नीय का वह भाग जो चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण और समीक्षा करता है एक तो चार्वाक दर्शन की स्थापना एवं समीक्षा-दोनों ही दृष्टि से अति समृद्ध है, दूसरे अतिप्राचीन भी माना जाता है, क्योंकि ठीक यही चर्चा हमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध और राजा 'पयासीय' के बीच होने का उल्लेख मिलता है।^२ जैन परम्परा में इस चर्चा को पाश्चात्य परम्परा के महावीर के समकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा 'पयासी', बौद्ध त्रिपिटक में बुद्ध और पयासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया गया है। यद्यपि कुछ जैन आचार्यों ने पयासी का संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है किन्तु देववाचक,

सिद्धसेनगणि, मलयगिरि और मुनिचन्द्रसूरि^३ ने राजा प्रसेनजित को ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक लगता है। प्रसेनजित को श्वेताम्बिका (सेयविया) नगरी का राजा बताया गया है जो इतिहास-सिद्ध है। उनका सारथि चित्त केशीकुमार को श्रावस्ती से यहाँ केवल इसीलिये लेकर आया था कि राजा की भौतिकवादी जीवन दृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। कथावस्तु की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से ही हमने इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया है।

प्रस्तुत विवेचना में मुख्यरूप से चार्वाक दर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद एवं परलोक तथा पुण्य-पाप की अवधारणाओं के उसके द्वारा किये गये खण्डनों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ उनकी इन आगमों में उपलब्ध समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं। इसमें भी ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में भौतिकवादी जीवन दृष्टि का जो प्रस्तुतीकरण है, वह उपर्युक्त विवरण से कुछ विशिष्ट प्रकार का है। उसमें जो दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देसोक्कल, सव्वोक्कल के नाम से भौतिवादियों के पाँच प्रकारों का उल्लेख है^४, वह अन्यत्र किसी भी भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं राजप्रश्नीय में चार्वाक दर्शन की स्थापना और खण्डन दोनों के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे भी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृत आगमिक-व्याख्या साहित्य में मुख्यतः विशेषावश्यकभाष्य (छठीं शती) के गणधरवाद^५ में लगभग पाँच सौ गाथाओं में भौतिकवादी चार्वाक दर्शन की विभिन्न अवधारणाओं की समीक्षा महावीर और गौतम आदि ११ गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। अन्य आगमिक संस्कृत टीकाओं (१०वीं-११वीं शती) में भी चार्वाक दर्शन

की जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षाओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। इन आगमों की प्राकृत एवं संस्कृत आगमिक व्याख्याओं, यथा-निर्युक्ति, भाष्य, चूणि, वृत्ति, टीका आदि के अतिरिक्त जैन दार्शनिक ग्रन्थों में भी भौतिकवादी जीवन दृष्टि की समीक्षाएं उपलब्ध हैं। किन्तु इन सबको तो किसी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही समेटा जा सकता है। अतः इस निबन्ध की सीमा मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए हम अपनी विवेचना को पूर्व निर्देशित प्राचीन स्तर के प्राकृत आगमों तक ही सीमित रखेंगे।

आचारांग में लोकसंज्ञा के रूप में लोकायत दर्शन का निर्देश

जैन आगमों में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अतिप्राचीन माना जाता है। विद्वानों में ऐसी मान्यता है कि इस ग्रन्थ में स्वयं महावीर के वचनों का संकलन हुआ है। इसका रचनाकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई.पू. माना जाता है। आचारांग में स्पष्ट रूप से लोकायत दर्शन का उल्लेख तो नहीं है किन्तु इस ग्रन्थ में इसकी समीक्षा की गई है। सूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि कुछ लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली) है। मैं कहाँ से आया हूँ और यहाँ से अपना जीवन समाप्त करके कहाँ जन्म ग्रहण करूँगा? सूत्रकार कहता है कि व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली) है जो इन दिशाओं और विदिशाओं में संचरण करती है और वही मैं हूँ। वस्तुतः जो यह जानता है वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।^६ इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध चार बातों की स्थापना की गई है... आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। आत्मा की स्वतन्त्र और नित्य सत्ता को स्वीकार करना आत्मवाद है। संसार को यथार्थ और आत्मा को लोक में जन्म-मरण करने वाला समझना लोकवाद है। आत्मा को शुभाशुभ कर्मों की कर्ता-भोक्ता एवं परिणामी (विकारी) मानना क्रियावाद है। इसी प्रकार आचारांग में लोकसंज्ञा का परित्याग करके इन सिद्धान्तों में विश्वास करने का भी निर्देश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि आचारांग में लोकायत या चार्वाक दर्शन का निर्देश लोक-संज्ञा के रूप में हुआ है।^७ यद्यपि इसमें इन मान्यताओं की समालोचना तो की गई है किन्तु उसकी कोई तार्किक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई है।

सूत्रकृतांग में लोकायत दर्शन

आचारांग के पश्चात् सूत्रकृतांग का क्रम आता है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध को भी विद्वानों ने अतिप्राचीन (लगभग ई.पू. चौथी शती) माना है। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्याय में हमें चार्वाक दर्शन के पंचमहाभूतवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें पंचमहाभूतवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, अप, तेजस, वायु और आकाश ऐसे पाँच महाभूत माने गये हैं। उन पाँच महाभूतों से ही प्राणी की उत्पत्ति होती है और देह का

विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता है।^८ साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति चाहे मूर्ख हो या पण्डित प्रत्येक की अपनी आत्मा होती है जो मृत्यु के बाद नहीं रहती। प्राणी औपपातिक अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करने वाले नहीं है। शरीर का नाश होने पर देही अर्थात् आत्मा का भी नाश हो जाता है। इस लोक से परे न तो कोई लोक है और न पुण्य और पाप ही है।^९ इस प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी चार्वाक दर्शन की मान्यताएं परिलक्षित होती हैं। यद्यपि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की समीक्षा प्रस्तुत की गई है, किन्तु विद्वानों ने उसे किंचित् परवर्ती माना है। अतः उसके पूर्व हम उत्तराध्ययन का विवरण प्रस्तुत करेंगे। इसमें चार्वाक दर्शन को जन-श्रद्धा (जन-सिद्धि) कहा गया है।^{१०} सम्भवतः लोकसंज्ञा और जन-श्रद्धा, ये लोकायत दर्शन के ही पूर्व नाम हैं। उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सांसारिक विषय ही हमारे प्रत्यक्ष के विषय हैं। परलोक को तो हमने देखा ही नहीं। वर्तमान के काम-भोग हस्तगत हैं जबकि भविष्य में मिलने वाले स्वर्ग-सुख अनागत अर्थात् संदिग्ध हैं। कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं? इसलिए मैं तो जन-श्रद्धा के साथ होकर रहूँगा।^{११} इस प्रकार उत्तराध्ययन के पंचम अध्याय में चार्वाकों की पुनर्जन्म के निषेध की अवधारणा का उल्लेख एवं खण्डन किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्याय में भी चार्वाकों के असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण किया गया है। क्योंकि चार्वाकों का पंचमहाभूत से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धान्त वस्तुतः असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त है यद्यपि उत्तराध्ययन में असत्कार्यवाद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह असत्कार्यवाद के पक्ष में न जाकर सत्कार्यवाद के पक्ष में ही जाता है। उसमें कहा गया है कि जैसे— अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल असत् होकर भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव भी असत् होकर ही उत्पन्न होता है और उस शरीर का नाश हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है।^{१२} सम्भवतः उत्तराध्ययन में चार्वाकों के असत्कार्यवाद की स्थापना के पक्ष में ये सत्कार्यवाद की सिद्धि करने वाले उदाहरण इसीलिये दिये गये होंगे ताकि इनकी समालोचना सरलता पूर्वक की जा सके। उत्तराध्ययन में आत्मा को अमूर्त होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं माना गया है, अमूर्त होने से नित्य कहा गया है।^{१३} उपरोक्त विवरण से चार्वाकों के सन्दर्भ में निम्न जानकारी मिलती है—

१. चार्वाक दर्शन को “लोक-संज्ञा” और “जन-श्रद्धा” के नाम से अभिहित किया जाता था।

२. चार्वाक दर्शन आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता था। वह पंचमहाभूतों से चेतना की उत्पत्ति बताता था।

३. इसी कारण वह असत्कार्यवाद अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करता था।

४. शरीर के नाश के साथ आत्मा के विनाश को स्वीकार करता था, तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करता था। पुनर्जन्म

की अस्वीकृति के साथ-साथ वह परलोक अर्थात् स्वर्ग-नरक की सत्ता को भी अस्वीकार करता था।

५. वह पुण्य पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों को भी अस्वीकार करता था, अतः कर्म सिद्धान्त का विरोधी था।

६. उस युग में दार्शनिकों का एक वर्ग अक्रियावाद का समर्थक था। जैनों के अनुसार अक्रियावादी वे दार्शनिक थे, जो आत्मा को अकर्ता और कूटस्थनित्य मानते थे। आत्मवादी होकर भी शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल (कर्म सिद्धान्त) के निषेधक होने से ये प्रच्छन्न चार्वाकी ही थे।

इस प्रकार आचारांग सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन के जो उल्लेख हमें उपलब्ध होते हैं। वे मात्र उसकी अवधारणाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। उनमें इस दर्शन की मान्यताओं से साधक को विमुख करने के लिए इतना तो अवश्य कहा गया है कि यह विचारधारा समीचीन नहीं है। किन्तु इन ग्रन्थों में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण और निरसन दोनों ही न तो तार्किक है और न विस्तृत।

ऋषिभाषित में प्रस्तुत चार्वाक दर्शन

ऋषिभाषित का बीसवाँ “उक्कल” नामक सम्पूर्ण अध्ययन ही चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के तार्किक प्रस्तुतीकरण से युक्त है। चार्वाक दर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद का प्रस्तुतीकरण इस ग्रन्थ में निम्नवत् हुआ है... “पादतल से ऊपर और मस्तक के केशाग्र से नीचे तथा सम्पूर्ण शरीर की त्वचापर्यन्त जीव आत्मपर्याय को प्राप्त हो जीवन जीता है और इतना ही मात्र जीवन है। जिस प्रकार बीज के भुन जाने पर उससे पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः जीव की उत्पत्ति नहीं होती है। इसीलिए जीवन इतना ही है अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से विनाश तक की कालावधि पर्यन्त ही जीवन है न तो परलोक है न सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल विपाक है। जीव का पुनर्जन्म भी नहीं होता है। पुण्य और पाप जीव का संस्पर्श नहीं करते हैं और इस तरह कल्याण और पाप निष्फल है। ऋषिभाषित में चार्वाकों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए पुनः कहा गया है कि “पादतल से ऊपर तथा मस्तक के केशाग्र से नीचे और शरीर की सम्पूर्ण त्वचा पर्यन्त आत्मपर्याय को प्राप्त यह जीव है, यह मरणशील है, किन्तु जीवन इतना ही नहीं है। जिस प्रकार बीज के जल जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर भी उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए जीवन में पुण्य-पाप का अग्रहण होने से सुख-दुख की सम्भावना का अभाव हो जाता है और पाप कर्म के अभाव में शरीर के दग्ध होने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता है। इस प्रकार व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहाँ हम देखते हैं कि ग्रन्थकार चार्वाकों के उनके ही तर्क का उपयोग करके यह सिद्ध कर देता है कि पुण्य-पाप से ऊपर उठकर व्यक्ति पुनर्जन्म से चक्र से

मुक्ति पा लेता है।

इस ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन के सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कर्म सिद्धान्त का उत्थापन करने वालों चार्वाकों के पाँच प्रकारों का उल्लेख हुआ है और ये प्रकार अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में मिलने वाले देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनःआत्मवाद आदि प्रकारों से भिन्न हैं और सम्भवतः अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं। इसमें निम्न पाँच प्रकार के उक्कलों की उल्लेख है— दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देशोक्कल और सव्वुक्कल।^{१५} इस प्रसंग में सबसे पहले तो यही विचारणीय है कि उक्कल शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? प्राकृत के उक्कल शब्द को संस्कृत में निम्न चार शब्दों के समीप माना जा सकता है— उत्कट, उत्कल, उत्कुल और उत्कूल। संस्कृत कोशों में उत्कट शब्द का अर्थ उन्मत्त दिया गया है। चूँकि चार्वाक दर्शन आध्यात्मवादियों की दृष्टि में उन्मत्त प्रलापवत् ही था, अतः उसे उत्कट कहा गया हो। किन्तु उक्कल का संस्कृत रूप उत्कट मानना उचित नहीं है। उसके स्थान पर उत्कल, उत्कूल या उत्कुल मानना अधिक समीचीन है। ‘उत्कल’ का अर्थ है जो निकाला गया हो, इसी प्रकार ‘उत्कुल’ शब्द का तात्पर्य है जो कुल से निकाला गया है या जो कुल से बहिष्कृत है।^{१६} चार्वाक आध्यात्मिक परम्पराओं से बहिष्कृत माने जाते थे, इसी दृष्टि से उन्हें उत्कल या उत्कुल कहा गया होगा। यदि हम इसे उत्कूल से निष्पन्न मानें तो इसका अर्थ होगा किनारे से अलग हटा हुआ। ‘कूल’ शब्द किनारे अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् जो किनारे से अलग होकर अर्थात् मर्यादाओं को तोड़कर अपना प्रतिपादन करता है वह उत्कल है। चूँकि चार्वाक नैतिक मर्यादाओं को अस्वीकार करते थे अतः उन्हें उत्कूल कहा गया होगा। अब हम इन उक्कलों के पाँच प्रकारों की चर्चा करेंगे—

दण्डोक्कल

ये विचारक दण्ड के दृष्टांत द्वारा यह प्रतिपादित करते थे कि जिस प्रकार दण्ड के आदि, मध्य और अन्तिम भाग पृथक-पृथक होकर दण्ड संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार शरीर से भिन्न होकर जीव, जीव नहीं होता है। अतः शरीर के नाश हो जाने पर भव अर्थात् जन्म-परम्परा का भी नाश हो जाता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर जीव जीवन को प्राप्त होता है।^{१७} वस्तुतः शरीर और जीवन की अपृथक्ता या सामुदायिकता ही इन विचारकों की मूलभूत दार्शनिक मान्यता थी। दण्डोक्कल देहात्मवादी थे।

रज्जूक्कल

रज्जूक्कलवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार रज्जू तन्तुओं का समुदाय मात्र है उसी प्रकार जीव भी पंचमहाभूतों का स्कन्ध मात्र है। उन स्कन्धों के विच्छिन्न होने पर भव-सन्तति का भी विच्छेद हो जाता है।^{१८} वस्तुतः ये विचारक पंचमहाभूतों के समूह को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और जीव को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करते

थे। रज्जुकल स्कन्धवादी थे।

स्तेनोक्कल

ऋषिभाषित के अनुसार स्तेनोक्कल भौतिकवादी अन्य शास्त्रों के दृष्टान्तों को लेकर उनकी स्वपक्ष में उद्भावना करके यह कहते थे कि यह हमारा कथन है।^{१९} इस प्रकार ये दूसरों के सिद्धान्तों का उच्छेद करते हैं।

परपक्ष के दृष्टान्तों का स्वपक्ष में प्रयोग का तात्पर्य सम्भवतः वाद-विवाद में 'छल' का प्रयोग हो। सम्भवतः स्तेनोक्कल या तो नैयायिकों का कोई पूर्व रूप रहे होंगे या संजयवेलटठीपुत्र के सिद्धान्त का यह प्राचीन कोई विधायक रूप था, जो सम्भवतः आगे चलकर जैनों के अनेकान्तवाद का आधार बना हो। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित स्वयं में देहात्मवादियों के तर्कों से ही मुक्ति की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।

देशोक्कल

ऋषिभाषित में जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करके भी जीव को अकर्ता मानते थे उन्हें देशोक्कल कहा गया है।^{२०} आत्मा को अकर्ता मानने पर पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती है। इसलिए इस प्रकार के विचारकों को भी आंशिक रूप से उच्छेदवादी ही कहा गया है। सम्भवतः ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो आत्म अकर्तावादियों को उच्छेदवादी कहता है। वस्तुतः ये सांख्य और औपनिषदिक वेदान्त के ही पूर्व रूप थे। जैन उन्हें उत्कूल या उच्छेदवादी इसलिए मानते थे कि इन मान्यताओं से लोकवाद (लोक की यथार्थता) कर्मवाद (कर्म सिद्धान्त) और आत्मकर्तावाद (क्रियावाद) का खण्डन होता था।

सव्युक्कल

सर्वोत्कूल अभाव से ही सबकी उत्पत्ति बताते थे। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जो सर्वथा सर्व प्रकार से सर्वकाल में रहता हो, इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद की संस्थापना करते थे।^{२१} दूसरे शब्दों में जो लोग समस्त सृष्टि के पीछे किसी नित्य तत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे और शून्य या अभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे वे सर्वोत्कूल थे। वे कहते थे कि कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो सर्वथा और सर्वकालों में अस्तित्व रखता हो। संसार के मूल में किसी भी सत्ता को अस्वीकार करने के कारण ये सर्वोच्छेदवादी कहलाते थे। सम्भवतः यह बौद्ध ग्रन्थों में सूचित उच्छेदवादी दृष्टि का कोई प्राचीनतम रूप था, जो तार्किकता से युक्त होकर बौद्धों के शून्यवाद के रूप में विकसित हुआ होगा।

इस प्रकार ऋषिभाषित में आत्मा, पुनर्जन्म, धर्म-व्यवस्था एवं कर्म-सिद्धान्त के अपलापक विचारकों का जो चित्रण उपलब्ध होता है उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है--

१. ग्रन्थकार उपरोक्त विचारकों को "उक्कल" नाम से अभिहित करता है जिसके संस्कृत शब्द रूप उत्कल, उत्कूल अथवा उत्कूल होते हैं। जिनके अर्थ होते हैं बहिष्कृत या मर्यादा का उल्लंघन करने वाला, इन विचारकों के सम्बन्ध में इस नाम का अन्यत्र कहीं प्रयोग हुआ हो ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता।

२. इसमें इन विचारकों के पाँच वर्ग बताये गये हैं-- दण्डोत्कल, रज्जुत्कल, स्तेनोत्कल, देशोत्कल और सर्वोत्कल। विशेषता यह है कि इसमें स्कन्धवादी (बौद्ध स्कन्धवाद का पूर्व रूप) सर्वोच्छेदवादी (बौद्ध शून्यवाद का पूर्व रूप) और आत्म-अकर्तावादी (अक्रियावादी-सांख्य और वेदान्त का पूर्व रूप) को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया गया है। क्योंकि ये सभी कर्म सिद्धान्त एवं धर्म व्यवस्था के अपलापक माने गये। यद्यपि आत्म-अकर्तावादियों को देशोत्कल अर्थात् आंशिक रूप से अपलाप करने वाले कहा गया है।

३. इसमें शरीर पर्यन्त आत्म-पर्याय मानने का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है वही जैनों द्वारा आत्मा को देह परिमाण मानने के सिद्धान्त का पूर्व रूप प्रतीत होता है। क्योंकि इस ग्रन्थ में शरीरात्मवाद के निराकरण के समय इस कथन को स्वपक्ष में भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इसमें जैन, बौद्ध और सांख्य तथा औपनिषदिक वेदान्त की दार्शनिक मान्यताओं के पूर्व रूप या बीज परिलक्षित होते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन मान्यताओं को सुसंगत बनाने के प्रयास में ही इन दर्शनों का उदय हुआ हो।

४. इसमें जो देहात्मवाद का निराकरण किया गया है वह ठोस तार्किक आधारों पर स्थित नहीं है। मात्र यह कह दिया गया है कि जीव का जीवन शरीर की उत्पत्ति और विनाश की काल सीमा तक सीमित नहीं है।

सूत्रकृतांग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

चार्वाकों अथवा तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का तार्किक दृष्टि से प्रस्तुतीकरण और उसकी तार्किक समीक्षा का प्रयत्न जैन आगम साहित्य में सर्व प्रथम सूत्रकृतांग के द्वितीय पुण्डरीक नामक अध्ययन में और उसके पश्चात् राजप्रश्नीय सूत्र में उपलब्ध होता है। अब हम सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का प्रस्तुतीकरण करेंगे और उसकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे। तज्जीवतच्छरीरवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि पादतल से ऊपर, मस्तक के केशों के अग्रभाग से नीचे तथा समस्त त्वक्पर्यन्त जो शरीर है वही जीव है। इस शरीर के जीवित रहने तक ही यह जीव जीवित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए शरीर के अस्तित्व पर्यन्त ही जीव का अस्तित्व है। इस सिद्धान्त को युक्ति-युक्त समझना चाहिए। क्योंकि जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि शरीर अन्य है और जीव अन्य है, वे भी जीव और शरीर को पृथक्-पृथक् करके नहीं

दिखा सकते। वे यह भी नहीं बता सकते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व है। वह परिमण्डलाकार अथवा गोल है। वह किस वर्ण और किस गन्ध से युक्त है अथवा वह भारी है, हल्का है, स्निग्ध है या रुक्ष है, अतः जो लोग जीव और शरीर को भिन्न नहीं मानते उनका ही मत युक्ति संगत है। क्योंकि जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों की तरह पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता, यथा—

१. तलवार और म्यान की तरह २. मुंज और इषिका (सरकण्डा) की तरह ३. मांस और हड्डी की तरह ४. हथेली और आँवले की तरह ५. दही और मक्खन की तरह ६. तिल की खली और तेल की तरह ७. ईख के रस और उसके छिलके की तरह ८. अरणि की लकड़ी और आग की तरह। इस प्रकार जैनागमों में प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम देहात्मवादियों के दृष्टिकोण को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पुनः उनकी देहात्मवादी मान्यता के आधार पर उनकी नीति सम्बन्धी अवधारणाओं को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है....

यदि शरीर मात्र ही जीव है तो परलोक नहीं है। इसी प्रकार क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, भला- बुरा, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक आदि भी नहीं है। अतः प्राणियों के वध करने, भूमि को खोदने, वनस्पतियों को काटने, अग्नि को जलाने, भोजन पकाने आदि क्रियाओं में भी कोई पाप नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में देहात्मवाद की युक्ति-युक्त समीक्षा न करके मात्र यह कहा गया है कि ऐसे लोग हमारा ही धर्म सत्य है ऐसा प्रतिपादन करते हैं और श्रमण होकर भी सांसारिक भोग विलासों में फंस जाते हैं।

इसी अध्याय में पुनः पंचमहाभूतवादियों तथा पंचमहाभूत और छठा आत्मा मानने वाले सांख्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सूचना के अनुसार पंचमहाभूतवादी स्पष्ट रूप से यह मानते थे कि इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ है। जिनसे हमारी क्रिया, अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरक गति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति, अधिक कहाँ तक कहें तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी (इन्हीं पंचमहाभूतों से) होती है।

उस भूत समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए जैसे कि पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पाँचवा महाभूत है। ये पाँच महाभूत किसी कर्ता के द्वारा निर्मित नहीं है न ही ये किसी कर्ता द्वारा बनवाये हुए हैं, ये किये हुये नहीं है न ही ये कृत्रिम हैं और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पाँचों महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं तथा अवन्ध्य-आवश्यक कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतन्त्र एवं शाश्वत नित्य हैं। यह ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऐसा कोई भी सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होता है, जिसमें मात्र चार महाभूत (आकाश को छोड़कर) मानने वाले चार्वाकों का उल्लेख हुआ हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पंचमहाभूतवादियों के उपरोक्त विचारों के साथ-साथ पंचमहाभूत और छठा आत्मा ऐसे छः तत्त्वों को मानने वाले विचारकों का भी उल्लेख हुआ है। इनकी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही जीवकाय है, इतना ही अस्तिकाय है और इतना ही समग्र लोक है। पंचमहाभूत ही लोक का कारण है। संसार में तृण-कम्पन से लेकर जो कुछ होता है वह सब इन पाँच महाभूतों से होता है। आत्मा के असत् अथवा अकर्ता होने से हिंसा आदि कार्यों में पुरुष दोष का भागी नहीं होता क्योंकि सभी कार्य भूतों के हैं। सम्भवतः यह विचारधारा सांख्य दर्शन का पूर्ववर्ती रूप है। इसमें पंचमहाभूतवादियों की दृष्टि से आत्मा को असत् और पंचमहाभूत और षष्ठ आत्मवादियों की दृष्टि से आत्मा को अकर्ता कहा गया है। सूत्रकृतांग इनके अतिरिक्त ईश्वर कारणवादी और नियतिवादी जीवन दृष्टियों को भी कर्म-सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण मिथ्यात्व का प्रतिपादक ही मानता है। इस प्रकार ऋषिभाषित के देशोत्कल और सूत्रकृतांग के पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मवादियों के उपरोक्त विवरण में पर्याप्त रूप से निकटता देखी जा सकती है। जैनों की मान्यता यह थी कि वे सभी विचारक मिथ्यादृष्टि हैं, जिनकी दार्शनिक मान्यताओं में धर्माधर्म व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की अवधारणा नहीं होती है। हम यह देखते हैं कि यद्यपि सूत्रकृतांग में शरीर आत्मवाद की स्थापना करते हुए देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, इस मान्यता का तार्किक रूप से निरसन किया गया है किन्तु यह मान्यता क्यों समुचित नहीं है? इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कोई भी तर्क नहीं दिये गये हैं। सूत्रकृतांग भी देहात्मवाद के दृष्टिकोण के समर्थन में तो तर्क देता है, किन्तु उसके निरसन में कोई तर्क नहीं देता है।

राजप्रश्नीयसूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा^{२३}

चार्वाक दर्शन के देहात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थन में और उसके खण्डन के लिए तर्क प्रस्तुत करने वाला प्रथम ग्रन्थ राजप्रश्नीय सूत्र है। यही एक मात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रन्थ है जो चार्वाक दर्शन के उच्छेदवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के सन्दर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में चार्वाकों की इन मान्यताओं के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है—

१. राजा प्रसेनजित या पएसी कहता है, हे! केशीकुमार श्रमण! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को अत्यन्त प्रिय था, अतः पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयंविद्या (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र! तुम

अधार्मिक नहीं होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना। देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया-- हे राजन! जिस प्रकार अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञाति जनों को यह बताये कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे नरक सम्बन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वे वहाँ से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता तब तक वे वहाँ से नहीं आ सकते। अतः तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर अन्य है, अपितु यह मान्यता रखो कि जीव अन्य है और शरीर एक ही है। स्मरण रहे कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्य लोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशिकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया—

हे श्रमण! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं, आप लोगों के मत के अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय था, अतः उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि हे पौत्र! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होओ। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया, अतः मैं यही मानता हूँ कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया— हे राजन! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि हे स्वामिन! यहाँ आओ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो, खड़े होओ, तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे। निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार हे राजन! देव लोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम भागों में इतने मूर्च्छित, गूढ़ और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा ही नहीं करते। दूसरे देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है, अतः वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते। तीसरे देवलोक में उत्पन्न वे देव वहाँ के दिव्य कामभागों में मूर्च्छित या तल्लीन होने के कारण अभी जाता हूँ-- अभी जाता हूँ ऐसा सोचते रहते हैं, किन्तु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्य लोक के सौ वर्ष के

बराबर होता है। अतः एक दिन का भी विलम्ब होने पर यहाँ मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है। पुनः मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण मनुष्य लोक में देव आना नहीं चाहते हैं। अतः तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही एक लोहे की कुम्भी में बन्द करवा कर अच्छी तरह से लोहे के उसका मुख ढक दिया फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से लेप कर दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वास पात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलवाया तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उस कुम्भी में कोई भी छिद्र, विवर या दरार नहीं थी, जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया-जिस प्रकार एक ऐसी कूटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो उसका द्वार गुप्त हो यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके। यदि उस कूटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गति वाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गति वाला है अतः तुम यह श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञान सम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार पर राजा के उपरोक्त तर्क का प्रति उत्तर दिया जा सकता है। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया—

मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौह कुम्भी में डलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर शीशे का लेप करवा दिया कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे आकर उसमें जीव उत्पन्न हुए हों। अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाये लोहे के गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशीकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुनः एक नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि, मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद दोनों ही दशाओं में तौला; किन्तु दोनों के तौल में कोई अन्तर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकला होता तो उसका वजन कुछ कम अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशक का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु

अगुरुलघु है उसी प्रकार जीव भी अगुरुलघु है। अतः तुम्हारा यह तर्क युक्ति संगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है। अब यह तर्क भी वैज्ञानिक दृष्टि से युक्ति संगत नहीं रह गया है। क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अन्तर पाया जाता है। उस युग में सूक्ष्म तुला के अभाव के कारण यह अन्तर ज्ञात नहीं होता रहा होगा।

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काट कर चीर कर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न उदाहरण देकर समझाया—

हे राजन! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है, मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वन-जीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा, हे देवानुप्रिय! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं, तू इस अरणी से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो लकड़ियों को घिस कर अग्नि जला लेना। संयोग वश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों ओर से उलट-पुलट कर देखने लगा, लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोछे-छोटे टुकड़े किये, किन्तु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौटकर आ गये, उसने उन लोगों से सारी बातें कहीं। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिस कर अग्नि जलाकर दिखायी और फिर सबने भोजन बना कर खाया। हे पएसी! जैसे लकड़ी को चीर कर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीर कर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है किन्तु तुम्हारी प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खता पूर्ण है जैसे अरणि को चीर-फाड़ करके अग्नि को देखने की प्रक्रिया, अतः हे राजा! यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गये हैं, किन्तु प्राचीन काल में सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिये ये ही तर्क प्रस्तुत किये जाते थे।

अतः चार्वाक दर्शन के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। जैन और बौद्ध परम्पराओं में इनमें से अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहाँ तक चार्वाक दर्शन के तर्कपुरस्सर प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है, उसे आगमिक व्याख्या साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य में देखा जा सकता है। जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठीं शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ की लगभग ५०० गाथायें तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबन्ध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था, अतः इस निबन्ध को यहीं विराम दे रहे हैं।

सन्दर्भ

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, भूमिका, पृ. ३९
२. दीघनिकाय, नवनालन्दा विहार, नालन्दा, पयासीसुत
३. राजप्रश्नीयसूत्र (संपा० मधुकरमुनि), भूमिका, पृ. १८
४. ऋषिभाषित (इसिभासियाई), प्राकृत भारती जयपुर, अध्याय २०
५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १५४९-२०२४
६. एवमेगेसिं णो णातं भवति-अत्थि मे आया उववाइए..... से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी।
— आचारांग (सं० मधुकरमुनि), १/१/१/१-३
७. छणं परिण्णाय लोगसण्णं सव्वसो
— आचारांग, १/२/६/१०४-
८. सूत्रकृतांग (संपा० मधुकरमुनि), १/१/१/७-८
९. वही, ११-१२
१०. जणेण सद्धि होक्खामि उत्तराध्ययनसूत्र, ५/७.
११. वही, ५/५-७
१२. जहा य अग्गी अरणी उऽ सन्तो खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे।
— उत्तराध्ययनसूत्र, १४/१८.
१३. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
— वही, १४/१९
१४. ऋषिभाषित (इसिभासियाई), अध्याय २०
१५. वही, अध्याय २०
१६. उत्कल, उत्कुल और उत्कूल शब्दों के अर्थ के लिए देखिए-
संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम्स), पृ. १७६
१७. ऋषिभाषित (इसिभासियाई), अध्याय २०
१८. वही,
१९. वही,
२०. वही,
२१. वही,
२२. सूत्रकृतांग (सं० मधुकरमुनि) द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्याय १,
सूत्र ६४८-६५८
२३. राजप्रश्नीय (मधुकरमुनि), पृ. २४२-२६०